*Quest Journals*
*Journal of Research in Humanities and Social Science*
*Volume 11 ~ Issue 9 (2023) pp: 326-330*
*ISSN(Online):2321-9467*
www.questjournals.org

**Research Paper**

# औपनिवेशिक वित्त प्रबंधन नीति का ऐतिहासिक अध्ययन

रिंकी कुमारी
*शोध छात्रा, इतिहास विभाग, बी.एन.एम.यू., मधेपुरा, बिहार*

***सार***

*भारत में विदेशी निवेश की शुरूआत 1856 में हुई जब पहली बार भारत में रेलों के निर्माण के लिए सार्वजनिक ऋण धन इकट्ठा किया गया। हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत में ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुओं की घुसपैठ के लिए रेल के निर्माण की सख्त जरूरत थी। भारत में विदेशी पूँजी के निर्यात के साथ ही वित्तीय पूँजी (Finance capital) के दौर का प्रारंभ होता है। अन्य दूसरी बातों के साथ ही इसका यह अर्थ भी था कि भारतीय बाजार पर कब्जा करने के बाद भी अंसतुष्ट ब्रिटिश उद्योगपतियों ने अपने बाजारों में मुनाफे की गिरती दरों के कारण अब भारत में अपनी पूँजी लगाने तथा सस्ते भारतीय श्रम के उपयोग द्वारा माल का उत्पादन करने का निर्णय ले लिया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके उद्देश्यों का जनकल्याण से दूर का भी रिश्ता नहीं था।*

## विस्तार

भारतीय भारत में एक विशेष प्रकार के विदेशी पूँजी–उपनिवेश के भी दर्शन कर रहे थे। आम तौर पर विदेशी पूँजी निवेश का अर्थ था भारत में निवेश के लिए इंग्लैंड से पूँजी का निर्यात, पर इसमें एक छोटा–सा किंतु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन (Deviation) हुआ। इंग्लैंड से वस्तुतः निर्यातित पूँजी बहुत कम थीं–1856–62 के बीच सात सालों के दौरान कुल 225 लाख पौंड। यह 1914 में रेकर्ड की गई कुल ब्रिटिश पूँजी (5,000 लाख पौंड) का बहुत छोटा–सा अंश है। (देखें तालिका 1)।

तालिका 1

भारत एवं श्रीलंका को ब्रिटिश पूँजी का निर्यात

| वार्षिक औसत | भारत एवं श्रीलंका को | विदेशों को किया गया कुल निर्यात | भारत और श्रीलंका का प्रतिशत |
|---|---|---|---|
| 1908–10 | 14.7 | 172.3 | 8.5 |
| 1921–23 | 30.2 | 129.0 | 23.7 |
| 1925–27 | 2.1 | 120.9 | 1.7 |
| 1932–34 | 4.2 | 135.1 | 3.1 |
| 1934–36 | 1.0 | 30.2 | 3.3 |

' स्रोत : रजनी पाम दत्त, आज का भारत।

सवाल उठता है कि फिर भारत में लगी शेष ब्रिटिश पूँजी कहाँ से आई? यह ऐसा सवाल है जो 20 वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में अनेक गतिविधियों को परेशान करता रहा। जैसा कि उन्होंने शीघ्र ही पता लगा लिया, इसका जवाब सार्वजनिक ऋण (Public debt) में निहित था। इस प्रकार सरकार द्वारा पूँजी निवेश के लिए भारत में ऋण

इकट्ठा किया गया जिसका सूद भारतीय जनता ने भरा, पर जिसका मुनाफा ब्रिटिश कोष में गया। भारत में ब्रिटिश पूँजी निवेश से संबंधित प्रासंगिक आँकड़े तालिका 2 में दिए गए हैं।

तालिका 2'

भारत और श्रीलंका में ब्रिटिश पूँजी निवेश

| | 1911 के मूल्यांकन के अनुसार (लाख पौंड में) |
|---|---|
| सरकार और नगरपालिका | 1825 |
| रेल | 1365 |
| चाय, कॉफी, रबर के बागान | 242 |
| ट्राम | 41 |
| बैंक | 34 |
| खान | 35 |
| तेल | 32 |
| व्यापारिक एवं औद्योगिक | 25 |
| वित भूमि और निवेश | 18 |
| मिला–जुला | 33 |

' स्रोत : रजनी पाम दत्त, आज का भारत।

विदेशी पूँजी के प्रवेश के अलावा इस बात का उल्लेख करना भी महत्त्वपूर्ण है कि तनाव के ऐसे अनेक परस्पराच्छादी (Overlapping) बिंदु थे जिन्होंने नवोद्भूत भारतीय पूँजी पर दबाव डाला। पहली बात तो यह थी कि औपनिवेशिक राज्य की राजनीतिक प्राथमिकताओं ने इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनुभव किए जा रहे उतार–चढ़ाव के प्रभाव को सहने से रोक रखा था। इसके अतिरिक्त आंतरिक विकृत अर्थव्यवस्था पर अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का जो प्रभाव था उसने भी नवोद्भूत पूँजी को नुकसान पहुँचाने में पूरा योगदान किया।

प्रायः यह तर्क दिया जाता रहा है कि ''पूँजी जुटाने'' में आई कठिनाइयों के कारण उद्योगीकरण के आरंभिक प्रयत्न असफल हुए। इस प्रसंग में अहमदाबाद के कपड़ा उद्योग का उदाहरण देखा जा सकता है। प्रायः ऐसा हुआ है कि यूरोपीय प्रतिस्पर्धा द्वारा थोपे गए प्रतिबंधों के कारण तथा राज्य स्तरीय सहायक तंत्र के अभाव में देशी पहल की गति धीमी रही अर्थात स्वदेशी उद्यमी नई–नई तकनीकों को शीघ्रता से अपना लेने के स्थान पर पुरानी मशीनरी से ही काम चलाते रहने, कच्चे माल की जोड़–तोड़ करते रहने तथा सस्ते मजदूरों से काम लेते रहने पर अधिक भरोसा करते रहे।।

जैसा कि स्पष्ट है, इस काल तक ब्रिटिश निवेश का मुख्य अंश रेल तथा इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रों में लगा। इस काल के अंत तक पूँजी–उत्पादक उद्योगों में पूँजी निवेश नगण्य ही रहा। ऐसा संयोगवश नहीं था, बल्कि यह तो भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा सचेत रूप से अपनाई गई नीति का ही परिणाम था। इस प्रकार हम पाते हैं कि भारत में रेलों के निर्माण के समय रेल की पटरियों तथा डिब्बों के लिए इस्पात ब्रिटेन से आयात किया गया। भारत में ही इसके उत्पादन की कोई कोशिश नहीं की गई, जबकि सामान्य स्थितियों में इस प्रकार की आवश्कताओं की पूर्ति करने से भारतीय उद्योगों के विकास को बढ़ावा मिलता, पर इस मामले में लाभ ब्रिटिश उद्योगों को ही पहुँचा।

*Corresponding Author: रिंकी कुमारी

स्थिति सदा एक–सी नहीं रही। वस्तुतः इतिहासकारों ने औद्योगिक विकास के अलग–अलग कालों का निर्धारण किया है। मोटे तौर पर यह वर्गीकरण इस प्रकार से किया गया है : (क) प्रथम विश्व युद्ध के पहले का काल, (ख) दोनों विश्व युद्धों का अंतर्वर्ती काल और (ग) ब्रिटिश शासन का उत्तरवर्ती काल। इन तीनों कालों में भारत और ब्रिटेन के आर्थिक संबंधेां में परिवर्तन होता रहा। यह परिवर्तन इसलिए भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि उस समय ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन हुए और विश्व की अर्थव्यवस्था में उसका निर्णायक स्थान बना। इसके अनुसार ही दोनों देशों के आर्थिक संबंधों के स्वरूप और मात्रा में परिवर्तन होता रहा। पहले काल की विशेषता यह रही कि इसके दौरान देशी उद्यमी अधिकाधिक सहायता, छूटों और संरक्षण–शुल्कों की माँग करते रहे। दूसरे काल में विदेशी पूँजी और स्वदेशी उद्यम के बीच संघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता गया क्योंकि प्रथम विश्व युद्ध ने नए–नए अवसरों के द्वारा खोल दिए थे। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अंत में मंदी का जो दौर आया उसके फलस्वरूप भारत से विदेशी पूँजी बड़ी तेजी से और भारी मात्रा मे निकाल ली गई।

जहाँ एक ओर ब्रिटिश सरकार ने पूँजी–उत्पादक उद्योग को उभरने से रोका, वहीं इस बात का पूरा ध्यान रखा कि उद्योग के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जैसे रेल, परिवहन, खाने, बागान, बैंक आदि ब्रिटिश पूँजी के नियंत्रण में ही रहें। यह रणनीति का अंग था क्योंकि इसके कारण भारतीय पूँजी इन क्षेत्रों में चहलकदमी नहीं कर पाई।

इन बाधाओं का महत्व तब और बढ़ जाता है जब हम इस काल के औद्योगिक संगठन तथा वित्त के स्वरूप का अध्ययन करते हैं।

## औद्योगिक संगठन और वित्त

इस श्रृंखला की एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था थी मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली (Managing Agency System)। 19 वीं शताब्दी में उभरने के बाद मैनेजिंग ऐजेंसियों ने सभी कंपनियों को, चाहे वे भारतीय हों या ब्रिटिश, अपनी गिरफ्तार में ले लिया।

ये मैनेजिंग एजेंसियाँ साझेदारी या प्राइवेट लिमिटेड कंपनियों की शक्ल में थीं जिनके पास सशक्त वित्तीय साधन थे तथा प्रबंध जुटाना, कच्चा माल खरीदने तथा बना–बनाया माल बेचने के काम में एजेंट की भूमिका निभाने जैसे काम किया करती थीं।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण काम था वित्तीय सहायता देने का। यह वित्तीय सहायता सीधे ऋण अथवा अग्रिम राशि के लिए जॉयंट स्टॉक कंपनियों द्वारा गारंटी दिए जाने के रूप में होती थी। मैनेजिंग एजेंटो के कारण सार्वजनिक तथा निजी जमाराशि का सतत प्रवाह बना रहता था जो इस काल में उपलब्ध औद्योगिक वित के ढाँचे का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था।

इन मैनेजिंग एजेंसियों को भी दो कोटियों में बाँटा जा सकता है, पहली जो मुख्य रूप से कलकत्ता को केंद्र बनाकर पूर्वी भारत में केंद्रित थीं तथा ब्रिटिश मैनेजिंग एजेंटों के नियंत्रण में थीं और दूसरी बंबई तथा पश्चिमी क्षेत्र में स्थित भारतीय नियंत्रण में थीं। कलकता और बंबई क्रमशः ब्रिटिश और भारतीय उद्योगपतियों के नियंत्रण वाले दो प्रमुख औद्यागिक केंद्रों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस बीच दक्षिण भारत औद्योगिक दृष्टि से अत्यंत पिछड़ा हुआ बना रहा तथा यूरोपीय लोगों के हाथ में व्यापार का अधिकांश हिस्सा रहा।

सरकार की ही भाँति मैनेजिंग एजेंटों ने भी ब्रिटिश नियंत्रण वाले उत्पादन को स्पष्टतः तरहीज (Preference) देना शुरू कर दिया था तथा उनके द्वारा अपनाई गई वित्त निवेश की नीति इसी का परिणाम थी। यह बात अनेक अर्थो में महत्त्वपूर्ण थी। पहले तो यही कि चूँकि यूरोपीय मैनेजिंग एजेंटों के पास बहुत अधिक व्यापारिक अनुभव और साख थी, अतः उनके पास अधिक पूँजी संसाधनों को आकर्षित तथा एकत्रित करने की क्षमता भारतीय एजेंटों की तुलना में बहुत ज्यादा थी। अकसर भारतीय भी इन कंपनियों के पास ही जाते थे क्योंकि वे वित्तीय दृष्टि से अधिक मजबूत थीं। दूसरे अधिक वित्तीय संसाधनों के कारण यूरोपीय मैनेजिंग एजेंट, अर्थव्यवस्था के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में होने वाले पूँजी निवेश को नियंत्रित कर सकते थे।

इस प्रकार हम पाते है कि भारत में निवेश का स्वरूप, उद्योगों के लिए वित्त की व्यवस्था तथा उनकी संरचना ने पहले तो ब्रिटिश उद्योग और बाद में ब्रिटिश नियंत्रण वाले उद्योग के पक्ष में पूर्वाग्रह तैयार किया। भारत में ब्रिटिश सरकार ने इस पूर्वाग्रह को बढ़ावा देकर इसके और ज्यादा फैलने में मदद ही की।

*Corresponding Author: रिंकी कुमारी

तालिका 3

बंबई की कंपनियों के आँकड़े (1928 में)

| | मिल | तकली | करघे | पूँजी (लाखों में) |
|---|---|---|---|---|
| अंग्रेज मैनेजिंग एजेंटों वाली कंपनियाँ 9 | 20 | 1112114 | 22121 | 989 |
| भारतीय मैनेजिंग एजेंटों वाली कंपनियाँ 22 | 57 | 2360528 | 51580 | 977 |

भारतीय उद्योग के प्रसंग में ब्रिटिश नीति पर विचार करते हुए 'मुक्त व्यापार' (laissez faire) के नारे और प्रभावशाली आर्थिक सिद्धांत को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। यह इस समय साम्राज्यवाद का गुरुमंत्र हुआ करता था और इसी नीति के तहत भारतीय उद्योग तहस–नहस हुआ। इस प्रकार भारत में मुक्त व्यापार का अर्थ वस्तुतः यह था कि ब्रिटिश उद्योगपतियों को भारत में 'मुक्त' रूप से व्यापार करने का हक मिले जिसमें यहाँ के उद्योग नष्ट करना भी शामिल है। अमिय कुमार बागची और सव्यसाची भट्टाचार्य जैसे इतिहासकार जब 'मुक्त व्यापार' की जगह 'भेदभावमूलक हस्तक्षेपवाद' (Discriminatory interventionism) का प्रयोग करते हैं तो वे ब्रिटिश नीति के इसी पहलू की ओर ध्यान केंद्रित करते हैं।[7]

दूसरे उद्योगों के साथ भी यही कहानी दुहराई गई। जहाँ भेदभावमूलक हस्तक्षेप (Discriminatory intervention) की यह सक्रिय नीति नहीं अपनाई जा सकी वहाँ टाल–मटोल की नीति से काम लिया गया जो उतनी ही नुकसानदेह थी। चीनी उद्योग, कागज, माचिस, भारी रासायनिक पदार्थ तथा काँच आदि सभी उद्योगों की यही नियति थी। इससे जो तस्वीर उभरती है वह निवेश के लिए पूँजी के अभाव अथवा अवसरों में मुँह छिपाने की नहीं है। जैसा कि साम्राज्यवादी तर्क देते रहे हैं। सच तो यह है कि सरकारी समर्थन न होने के बावजूद भारतीय उद्योगपति पहलकदमी द्वारा आगे बढ़ने के लिए प्राणपण से सचेष्ट थे। सरकार स्थानीय उद्योगपतियों को यह आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं थी कि वह उनके द्वारा तैयार किए गए माल को उसी कीमत पर खरीदेगी जो कीमत भारत पहुँचने पर आयातित वस्तुओं की होती थी। इसके साथ ही परिवहन की दरें इतनी अधिक थीं कि पूर्वी क्षेत्र को छोड़कर हर कहीं आयातित कोयला रानीगंज के कोयले के मुकाबले सस्ता बैठता था।

निष्कर्ष के रूप में हम भारतीय उद्योग के विषय में निम्नलिखित बातें कह सकते हैं–पहली तो यह कि कुल राष्ट्रीय आय में आधुनिक उद्योग का हिस्सा बहुत कम था। अतः आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर सीमित थे और तकनीकी प्रगति के लिए पश्चिमी देशों पर निर्भरता बहुत अधिक थी। परिणामस्वरूप पूँजी उत्पादक उद्योग (Capital goods industry) का क्षेत्र बहुत सीमित था। उद्योग के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पर विदेशी पूँजी का नियंत्रण था। भारतीयों द्वारा किए जाने वाले औद्योगिक विकास को सहारा देने वाले उत्साही उद्योगपतियों का आधार बहुत संकीर्ण था तथा केवल वे उद्योगपति ही जमे रह सकते थे जिनके पास प्रचुर मात्रा में पूँजी संसाधन (capital resources) थे। इसलिए वे बदले में इजारेदारों (Monoplists) के रूप में विकसित भी हुए। औद्योगिक विकास के अवरुद्ध स्वरूप ने विदेशी पूँजी पर निर्भरता को बनाए रखा।

इसके बावजूद महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रक्रिया में दो नए वर्गों का निर्माण हुआ– पूँजीपति वर्ग (Capitalist class) तथा औद्योगिक सर्वहारा वर्ग (Industrial proletariat) ये दोनों ही वर्ग 1857 के बाद के आधुनिक भारत की उपज हैं तथा इस काल की राजनीतिक घटनाओं में दोनों की आवाजों को स्पष्टता के साथ सुना जा सकता है।

पूँजीपति वर्ग (Capitalists class) ने इस समय अपने संगठन बनाए और विभिन्न तरीकों से सरकार से अपनी सुनवाई के लिए कदम उठाए। इन्हीं वर्षो में अलग–अलग इलाकों में चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इन्डस्ट्रीज का गठन हुआ। कांग्रेस के प्लेटफार्म से भी हिंदुस्तानी उद्योग के विकास में रूकावटों की चर्चा हुई। उद्योगपतियों ने कभी साम्राज्यवादियों के साथ मिल–बैठकर और कभी जन–उभार तथा आंदोलन के दबाव में बूते पर अपनी माँग मनवाने का प्रयत्न किया।

औद्योगिक श्रमिक वर्ग में से अधिकांश बाहर से आए मजदूर थे। इनकी भर्ती दूर–दराज के इलाकों से होती थी

*Corresponding Author: रिंकी कुमारी

किंतु ये सब किसी–न–किसी रूप में अपने ग्रामीण क्षेत्रों से जुड़े रहते थे। प्रायः इस प्रकार की स्थिति को पिछड़ेपन की निशानी माना जाता किंतु यह समझना भी तो आवश्यक है कि शायद यह अपना अस्तित्व बनाए रखने का एक तरीका भर है। इस प्रसंग में चंदावरकर का सारगर्भित कथन यह है कि श्रम शक्ति के संगठन को ''कृषक वर्ग से बुर्जुआ वर्ग में सहज उन्नति'' समझना उचित नहीं होगा।

ज्यों–ज्यों बीसवीं सदी आगे बढ़ती गई त्यों–त्यों कामगारों के अधिकारों के संघर्ष में तेजी आती गई। फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि श्रमिक वर्ग में जगी चेतना न तो ''सहज'' विकास का परिणाम थी और न ही यांत्रिक प्रक्रिया का। अलग–अलग प्रकार के उद्योगों में और अलग–अलग क्षेत्रों में इसका स्वरूप भी अलग–अलग रहा।

इधर रेलों के बिछाने के साथ एक नए वर्ग के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ था। यह वर्ग था औद्योगिक मजदूर वर्ग या सर्वहारा (Industrial working class) जमीन से बेदखल हुए भूमिहीन किसान और बेरोजगार दस्तकार अब रोजी–रोटी कमाने के लिए नए उद्योगों की ओर जा रहे थे।

**–: संदर्भ :–**

[1]. Brij Narain, India Before and since the Crisis, Indian Press, Allahabad, 1939.
[2]. Dharma Kumar, "The Fiscal Syatem." in CEHI, op. cit.
[3]. C.N. Vakil, Financial Development in Modern India, 1866-1924, Bombay, 1939.

*Corresponding Author: रिंकी कुमारी